तेरापंथ का महासूर्यः आचार्य भिक्षु

— डॉ. सोहनराज तातेड़

तेरापंथ का उद्भव

जैन परम्परा में आचार्य भिक्षु का उदय एक नये आलोक की सृष्टि है। वे वि.सं.1783 में इस संसार में आये। वि.सं. 1808 में स्थानकवासी मुनि बने, वि.सं. 1817 में तेरापंथ का प्रवर्तन किया और वि.सं.1860 में स्वर्गवासी हो गये। आचार्य भिक्षु ने अपने समय की विक्रम की 19वीं शती का जो चित्र खींचा है वह हरिभद्रसूरि के समय की विक्रम की 8–9वीं शती से मिलता जुलता है। साधु जीवन की शिथिलता का विवरण आचार्य भिक्षु ने इस प्रकार दियाः—

1. आज वैराग्य घट रहा है। हाथी का भार गधों पर लदा हुआ है। वे थक गये हैं और उन्होंनें वह भार नीचे ढाल दिया है।[1]
2. आज के साधु अपने लिए बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं।[2]
3. चेला—चेली बनाने के लिए आतुर रहते हैं। इन्हें सम्प्रदाय चलाने से मतलब है, साधुपन से नहीं।[3]
4. पुस्तक, पन्ने, उपाश्रय को मोल लिवाते हैं।[4]
5. जीमनवारों में गोचरी जाते हैं।[5]
6. दूसरों की निंदा में रत रहते हैं।[6]
7. मर्यादा से अधिक सरस आहार लेते हैं।[7]
8. गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञाएं दिलाते हैं कि तू दीक्षा ले तो मेरे पास लेना और किसी के पास नहीं।[8]
9. मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं।[9]
10. चेलों को खरीदते हैं।[10]
11. गृहस्थ के साथ समाचार भेजते हैं।[11]
12. पुस्तकों का प्रतिलेखन नहीं करते।[12]
13. साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को ज्यों त्यों रोकने का यत्न करते हैं। उनके कुटुम्ब में कलह का बीज बो देते हैं।[13]

इन्ही विचारों और आचरणों की प्रतिक्रिया हुई और उसी का परिणाम तेरापंथ है।[14] तेरापंथ का प्रारंभ वि.सं. 1817 आसाढ़ी पूर्णिमा से होता है। उसी दिन आचार्य भिक्षु ने नये सिरे से व्रत ग्रहण किए।[15] इस प्रकार उनकी दीक्षा के साथ ही तेरापंथ का सहज प्रवर्तन हुआ। विक्रम की 19वीं शती में एक मानसिक परिवर्तन हो गया था—''अभी दुःषम समय है, पाँचवा

आरा है, कलिकाल है। इस समय साधु के कठोर नियमों को नहीं निभाया जा सकता''। इस धारणा ने साधु संघ को शिथिलता की ओर मोड़ दिया।[16]

श्वेताम्बर परम्परा में तेरापंथ की स्थापना वि.सं.1817(आसाढ़ी पूर्णिमा) से हुई। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु। वे वि.सं. 1808 में स्थानकवासी सम्प्रदाय (जिसका प्रारंभ लोंकाशाह की परम्परा में हुआ) में दीक्षित हुए और वि.सं. 1816 में उससे सम्बन्ध विच्छेद कर पृथक् हुए। उनकी दृष्टि में उस समय वह सम्प्रदाय चारित्रिक–शिथिलता से आक्रान्त हो गया था। आचार्य भिक्षु ने आगमों का अध्ययन किया, तब उन्हे लगा कि आज हमारा आचरण सर्वथा आगमोनुमोदित नहीं है और सिद्धांत पक्ष भी विपरीत है।[17] जैन परम्परा में एक सम्प्रदाय जन्म लेगा – यह कल्पना न आचार्य रुघनाथ को थी और न स्वयं भिक्षु को ही। यह कोई गुरुत्व और शिष्यत्व का विवाद नहीं था।[18] भिक्षु के मन में रुघनाथजी को गुरु और स्वयं शिष्य मानने की भावना नहीं होती वे दूसरा सम्प्रदाय खड़ा करने की बात करते। किन्तु वे ऐसा क्यों सोचते। आचार्य रुघनाथजी से उन्हें बहुत स्नेह था। आचार्य रुघनाथजी एक बड़े सम्प्रदाय के महान् नेता थे। उनके उत्तराधिकारी के रूप में भिक्षु का नाम लिया जाता था।[19] फिर वे क्यों उनसे पृथक् होते? किन्तु भिक्षु के मन में और कोई भावना नहीं थी। वे केवल चारित्र–शुद्धि के लिए छटपटा रहे थे।[20] यही था उनका ध्येय और इसी की पूर्ति के लिए वे अपने आचार्य से खेद के साथ पृथक् हुए।

आचार्य भिक्षु की साधना

किसी व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा –''महाराज! आपका मार्ग बहुत ही संयत है, वह कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया–उसका अनुगमन करने वाले साधु–साध्वी जब तक श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे, वस्त्र–पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे और स्थानक बांध नहीं बैठेंगे, तब तक यह मार्ग चलेगा।''[21] **आचार्य भिक्षु की साधना है–जीव जीता है। वह अहिंसा या दया नहीं है। कोई मरता है वह हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का संयम करना अहिंसा है।**[22] योगीराज कृष्ण ने कहा था–जो योगयुक्त आत्मा है, जो सर्वत्र समदर्शी है, वह सब जीवों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सब जीवों को देखता है।[23] ऐसी थी भिक्षु की प्राणवान साधना। **दिन हो या रात, अकेला हो या परिषद् के बीच, सोया हुआ हो या जागृत, प्रत्येक स्थिति में जो हिंसा से दूर रहता है, वह आध्यात्मिक है और दूर रहने की वृत्ति ही अध्यात्म है।** आचार भिक्षु की साधना का मुख्य यही आधार था।

उदयपुर में एक व्यक्ति आया और कहने लगा–मुझसे तत्वचर्चा का कोई प्रश्न पूछो। आचार्य भिक्षु ने नहीं पूछा। बार–बार अनुरोध किया तब पूछा–तुम समनस्क हो या अमनस्क? उसने कहा–समनस्क। आचार्य ने पूछा–कैसे? उसने कहा–नहीं मैं अमनस्क हूँ। फिर पूछा–किस न्याय से? वह बोला–नहीं, मैं दोनो ही नहीं हूँ। फिर पूछा–किस न्याय से? वह इस न्याय न्याय से रुष्ट होकर आचार्य भिक्षु की छाती में घूंसा मारकर चलता बना।[24] आचार्य भिक्षु ने इस अपमान को समभाव से सह लिया। ऐसी उत्कृष्ट साधना थी आचार्य भिक्षु की। आचार्य भिक्षु ने अपने प्रिय शिष्य भारीमलजी से कहा–''यदि तुम में किसी ने खामी बताई, तो प्रत्येक खामी के

लिए तेला(त्रिदिवसीय उपवास) करना होगा''। उन्होनें उसे स्वीकार करते हुए कहा–''गुरुदेव! यदि कोई झूठमूठ ही खामी बता दे तो? आचार्यवर ने कहा ''तेला तो करना ही है। खामी होने पर कोई उसे बताए, तो 'तेला' उसका प्रायश्चित हो जायेगा। खामी किए बिना भी कोई उसे बताए, तो मान लेना कि यह किए हुए कर्मों का परिणाम है।'' भारीमलजी ने आचार्य की वाणी को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। तर्क से यह कभी भी शिरोधार्य नहीं किया जा सकता था।[25]

आचार्य भिक्षु की साधना इसलिए प्राणवान थी कि वे अनुशासन के पक्ष में बहुत सजग थे। एक बार की घटना है, आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिए शब्द किया। उत्तर नहीं मिला। दो तीन बार आवाज देने पर भी उत्तर नहीं मिल रहा था। ''लगता है, वेणीराम संघ से अलग होगा''– आचार्य भिक्षु ने गुमानजी लुणावत से कहा। गुमानजी तत्काल उठे और सामने की दुकान में वेणीरामजी स्वामी के पास जा वह सब सुना दिया, जो आचार्यवर ने कहा था। वे उसी क्षण आचार्यवर के पास आये और वंदना की। आपने कहा–''शब्द करने पर भी नहीं बोलता है''? वेणीरामजी ने कहा–''गुरुदेव मैंनें सुना ही नहीं था''। उनके नम्र व्यवहार ने आचार्यवर को प्रसन्न कर लिया, किन्तु इस घटना से सब साधुओं को अनुशासन की एक सजीव शिक्षा मिल गई।[26] तमिल भाषा के कवि मुनसरै मरुदनाट ने कहा है–यदि किसी मनुष्य के पास अपार धन सम्पति हो, पर उसमें सच्चा संयम न हो, एसे व्यक्ति को अधिकार देना बन्दर के हाथ में मशाल देने के समान है।[27] मशाल न मुझे और न दूसरों को जलाये, यह तभी हो सकता है जब वह योग्य व्यक्ति के हाथ में हो। संयमहीन भी और साधु भी, ये दोनों विरोधी दिशाएं हैंः–

अंकुश के बिना जैसे हाथी चलता है,
लगाम के बिना जैसे घोड़ा चलता है,
वैसे ही संयम के बिना कुगुरु चलता है,
वह केवल कहने के लिए साधु है।[28]

आचार्य भिक्षु अनुशासन को साधना का एक अभिन्न अंग मानते थे। वे स्व एवं पर–अनुशासन के प्रति अत्यन्त जागरूक थे।

आचार्य भिक्षु की मान्यताएं

आचार्य भिक्षु की मान्यताएं थीः–

(1) कई लोग कहते हैं–जीवों को मारे बिना धर्म नहीं होता। यदि मन के परिणाम अच्छे हो तो जीवों को मारने का पाप नहीं लगता। पर जानबूझ कर जीवों को मारने वाले के मन का परिणाम अच्छा कैसे हो सकता है?[29]

(2) जहां दया है वहाँ ''जीव वध किए बिना धर्म नहीं होता'' यह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

(3) जीव वध होता है वह जीव की दुर्बलता है, किन्तु उसे धर्म का रूप देना कि ''हिंसा किए बिना धर्म नहीं होता'' नितान्त दोषपूर्ण है।

(4) एक जीव को मारकर दूसरे जीव की रक्षा करना धर्म नहीं हैं। धर्म यह है कि अधर्मी को समझा–बुझाकर धर्मी बनाया जाए।[30]

(5) जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना लौकिक मार्ग है। उसमें जो धर्म बताते हैं, वे पूरे मूढ़ और अज्ञानी है।[31]

(6) कई लोग कहते हैं–''दया लाकर जीवों को मारने में धर्म और पाप दोनों होते हैं''।'[32] किन्तु पाप करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से पाप नहीं होता। एक करणी में दोनों नहीं हो सकते।[33]

(7) पाप और धर्म की करणी भिन्न–भिन्न है।[34]

(8) अवृत का सेवन करना, कराना और अवृत सेवन का अनुमोदन करना पाप है।[35]

(9) वृत का सेवन करना, कराना और वृतन सेवन का अनुमोदन करना धर्म है।

(10) सम्यग्–दृष्टि लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न–भिन्न मानता है।[36]

(11) धर्म त्याग में हैं, भोग में नहीं।

(12) धर्म हृदय–परिवर्तन में है, बलात्कार में नहीं।

(13) असंयति के जीने की इच्छा करना राग है।

(14) उसके मरने की इच्छा करना द्वेष है।

(15) उसके संयति होने की इच्छा करना धर्म है।

जो तप और नियम में सुस्थित है, उसका जीना भी अच्छा है और मरना भी अच्छा है। वे जीवित रहकर गुणों का अर्जन करते हैं और मरकर सुगति को प्राप्त होते हैं।[37] जो पाप करने वाले हैं, उनका जीना भी अच्छा नहीं है और मरना भी अच्छा नहीं है। वे जीवित रहकर वैर की वृद्धि करते हैं और मरकर अंधकार में जा गिरते है।[38] जो हिंसा अनिवार्य हो पड़ती है, उसे व्यवहार शास्त्र पाप नहीं मानता। इसलिए यथार्थ में की गई हिंसा का व्यवहार शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्यकर्म मानता है। यह अपूर्ण सत्य है। हिंसा तो हर हाल में हिंसा ही रहेगी और हिंसा मात्र पाप है।[39] साध्य के सही होने पर भी अगर साधन गलत हों तो वे साध्य को बिगाड़ देंगे या उसे गलत दिशा में मोड़ देंगे। इस तरह साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है। वे दोनों एक दूसरे से अलग किए जा सकते है।[40]

दान सामाजिक तत्व है। वर्तमान समाज व्यवस्था में उसके लिए कोई स्थान नहीं, यह समाज–सम्मत हो चुका है। दान के स्थान पर सहयोग की चर्चा चल पड़ी है। दुनिया में शारीरिक श्रम के बिना भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को ही है। जो ईश्वर–भक्ति के रंग में रंगा हुआ है ऐसे सच्चे सन्यासी को यह अधिकार है।[41] घाणेराव के कई व्यक्ति मिले। उन्होंने पूछा–तुम कौन हो? मैं भीखण हूँ–आचार्य भिक्षु ने कहा। उन्होंने कहा–ओह! अनर्थ हो गया। उन्होंने पूछा–सो कैसे? वे बोले–तुम्हारा मुँह देखने वाला नरक में जाता है। तुम्हारा मुँह देखने वाला तो स्वर्ग में जाता होगा? आचार्य भिक्षु ने पूछा। उन्होंने

स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया। तुम्हारे लिए अच्छा नहीं हुआ, मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ–मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा, क्योंकि तुम्हारा मुँह देखा है।[42]

आचार्य भिक्षु की मान्यता है–अहिंसा करना पाप है, करवाना पाप है और उसका अनुमोदन भी पाप है।[43] **जहाँ किसी की हिंसा नहीं होती वहां दया और संयमी दान यही मोक्ष के मार्ग है।** भगवान ने इन्हीं को धर्म सम्मत कहा है।[44] उनके समर्पण की भाषा है–प्रभो! आपने सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को मुक्ति का मार्ग कहा है। मैं इसके सिवाय और किसी तत्व को धर्म नहीं मानता। मैं अरिहन्त को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु और आपके द्वारा प्ररूपित–मार्ग को ही धर्म मानता हूं। मैरे लिए और सब भ्रमजाल है। मैरे लिए आपकी आज्ञा ही सर्वोपरि प्रमाण है।[45] जैन धर्म पर आचार्य भिक्षु की अगाध श्रद्धा थी पर वे जैन संस्कृति को संकुचित अर्थ में नहीं मानते। उनकी वाणी है–भगवान का मार्ग राज मार्ग है। वह कोई पगडण्डी नहीं जो बीच में ही रूक जाए। वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है।[46]

वे धर्म को एक मानते थे। मिथ्यादृष्टि की निरवध्य प्रवृति धर्म है, उसका दृढ़ता पूर्वक समर्थन कर उन्होनें जैन परम्परा के उदार दृष्टिकोण को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया। अमुख सम्प्रदाय का अनुयायी बनने से ही धर्म होता है अन्यत्र नहीं, इस भ्रमपूर्ण मान्यता का उनकी स्पष्ट वाणी से स्वतः खण्डन हो गया।[47] धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है, इस सच्चाई की उन्हें गहरी अनुभूति थी। उन्होने कहा–निरवध्य प्रवृति धर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जैनतर की। सावध्य प्रवृति अधर्म है भले फिर वह जैन की हो या जैनेतर की। आचार्य भिक्षु ने कहा–भगवान का धर्म समुद्र की तरह विशाल और आकाश की तरह व्यापक है। जो धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है, भगवान ने उसकी व्याख्या की है, वह एक शब्द में है–**अहिंसा**। भगवान ने कहा प्राण, भूत, जीव और सत्वों को मत मारो, उन पर अनुशासन मत करो, उन्हें दास–दासी बनाकर अपने अधीन मत करो। उन्हें परिताप मत दो, उन्हें कष्ट मत दो, उन्हें उपद्रव मत करो, यही धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।[48] जिन शासन में ग्लान की सेवा ही सार है। और जो ग्लान की सेवा करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है।[49]

गेहूँ के साथ भूसा होता है, पर भूसे के लिए गेहूँ नहीं बोया जाता। धर्म के साथ पुण्य का बंध होता है, पर पुण्य के लिए धर्म नहीं किया जाता। जो पुण्य की इच्छा करता है, उसके पाप का बंध होता है।[50] जीभ की दवा आंख में डालने से और आंख की दवा जीभ में लगाने से आंख फूट जाती है और जीभ फट जाती है। इसी प्रकार अधर्म का कार्य का जो धर्म में और धर्म के कार्य का अधर्म में समावेश करता है, वह दोनों प्रकार से अपने आपको बांध लेता है।[51]

आचार्य भिक्षु की मर्यादाएं

आचार्य भिक्षु ने लिखा की दीक्षार्थी को नव तत्वों की पूरी जानकारी कराने के बाद दीक्षा दी जाए।[52] आचार्य भिक्षु अपने जीवन में सतर्क रहे। उन्होंने अंतिम शिक्षा में भी यही कहा–'जिस तिस को मत मूंढ़ लेना, दीक्षा देने में पूरी सावधानी रखना।'[53] इस प्रकार अयोग्य दीक्षा पर कड़ा प्रतिबंध लगा उन्होने अनुशासन की भूमिका को सुदृढ़ बना दिया। उन्होने लिखा है–किसी साधु को आचार, श्रद्धा, सूत्र या कल्प सम्बन्धी किसी विषय की समझ न पड़े तो वह, आचार्य या बहुश्रुत साधु कहे, उसे मान ले। उनके समझाने पर भी बुद्धि में न बैठे तो उसे

केवलीगम्य कर दे। किन्तु दूसरे साधुओं को सन्देह में डालने का यत्न न करे।[54] आचार्य भिक्षु ने अन्तिम निर्णायक आचार्य को माना है फिर भी उन्होंने बहुश्रुत साधुओं को उचित स्थान दिया है। उन्होने लिखा है–'किसी विषय को प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराने का अवसर आए तो उसके लिए बहुश्रुत साधुओं को भी पूछा जाए।'[55]

आचार्य भिक्षु ने कहा–''बहुत दिनों के बाद कोई किसी में दोष बताए तो प्रायश्चित का भागी वहीं है जो दोष बताता है। जिसने दोष किया हो, उसे याद हो तो, उसे प्रायश्चित करना ही चाहिए''।[56] बहुत दिनों बाद जो दोष बताए उसकी बात कैसे मानी जाए? उसकी बात में सच्चाई हो तो ज्ञानी जाने। परन्तु व्यवहार में उसका विश्वास नहीं होता।[57] जो दोषों को इक्ट्ठा करता है वह अन्यायवादी है।[58] जब आपस में प्रेम होता है तब तो उसके दोषों को छिपाता है और प्रेम टूटने पर दोषों की गठरी खोल फैंकता है, उस व्यक्ति का विश्वास कैसे हो? यह विपरीत बुद्धि है।[59]

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि छोटे–छोटे गांव खाली है और बड़े–बड़े गांव साधुओं से भरे हैं। साधुओं की दृष्टि उपकार से हटकर सुविधा पर टिक रही है। उन्होंने व्याख्या की–''सब साधु–साध्वियों विहार, शेषकाल या चातुर्मास भारमलजी (वर्तमान आचार्य) की आज्ञा से करें। आज्ञा के बिना नहीं रहें।[60] आचार्य भिक्षु भादवा सुदी 13 विक्रम संवत् 1960 को चर्म शरीर छोड़कर दिवंगत हो गए। हम उनके शुद्ध चारित्र के प्रति श्रद्धाप्रणत हैं।

सलाहकार,
जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं (राजस्थान)

संदर्भ सूची––

[1] आचार की चौपाई : 6.28
[2] वही : 1–2
[3] वही : 3.11
[4] वही : 1.7
[5] वही : 1.20–29
[6] वही : 1.17
[7] वही : 1.38
[8] वही : 1.18–19
[9] वही : 1.41–42
[10] वही : 1.22
[11] वही : 1.27–28
[12] वही : 1.25
[13] वही 5.33–34
[14] भिक्षु जश रसायण :2, दोहा 1–5
[15] वही 8, दोहा 3–4
[16] वही 5, दोहा 15–16

[17] वही 2, दोहा 6: सरधा पिण साची नहीं, असल नहीं आचार। इण विध करे आलोचना, पिण द्रव्य गुरु सूं अति प्यार।।
[18] वही 4, दोहा 10
[19] वही 2, दोहा 9
[20] वही 4, दोहा 11–13
[21] भिक्षु दृष्टांत, 307, पृ.121
[22] अणुकम्पा 5–11
[23] गीता 6। 29
[24] भिक्षु दृष्टांत 47, पृ. 21
[25] भिक्षु जश रसायण 11, 6–10
[26] भिक्षु दृष्टांत, 163, पृ. 66
[27] तिम साहित्य और संस्कृति, पृ. 86
[28] आचार की चौपाई, 1.35
[29] व्रताव्रत 12, 34–38
[30] अणुकम्पा : 5.5
[31] अणुकम्पा : 9.25
[32] निह्नव चौपाई 3, दुहा 2
[33] वही, दुहा 3
[34] व्रताव्रत, 11.32
[35] निह्नव चौपाई 3, दुहा 2.5
[36] अणुकम्पा, 11.50
[37] उपदेशमाला, श्लोक 443
[38] वही, श्लोक 444
[39] अहिंसा प्रथम भाग, पृ. 53
[40] सर्वोदय का सिद्धान्त, पृ. 13
[41] विनोबा के विचार, पृ. 120
[42] भिक्खु दृष्टांत, 15, पृ. 9
[43] अणुकम्पा, 4, दोहा 2
[44] व्रताव्रत 12.49
[45] वीर सुनो मोरी वीनती : 1.6–7
[46] आचार्य संत भीखणजी, पृ. 85
[47] सूत्रकृतांग 1/1/19
[48] आयारो 4 /1, 2
[49] उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रदीप वृतिः पत्र 18
[50] नव पदार्थ, पुण्य पदार्थ 1.52
[51] व्रताव्रत 4, 4–5
[52] लिखित 1832
[53] वही 1859
[54] वही 1845
[55] वही 1832
[56] वही 1850
[57] (क) आचार की चौपाई, 15.8: घणा दिन रा दोष बतावे, ते तो मानवा में किम आवे।
साच झूठ तो केवली जाने, छदमस्थ प्रतीत ना आणे।। (ख) लिखित, 1850
[58] लिखित 1850
[59] आचार की चौपाई, 15.9 : हेत मांहि तो दोषण ढांके, हेत टूटां कहतो नहिं सोके।
तिणरी किम आवे परतीत, उणमें जाण लेणो विपरीत।।
[60] लिखित, 1859